**ओ३म्**

**‘मनुष्य व समाज की प्रमुख शत्रु अविद्या’**

**-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।**

 सामान्यतः सत्य ज्ञान को विद्या और विपरीत या मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते हैं। वेद का एक अर्थ जानना व ज्ञान भी होता है। मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति माता-पिता व आचार्य के उपदेशों सहित वेद और सत्य वैदिक साहित्य को पढ़कर उसका सम्यक् ज्ञान होने पर होती है। ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों को विद्वान कहते हैं। इसके विपरीत जिनके माता-पिता व आचार्य वेद और वेदानुकूल शास्त्रों का ज्ञान न रखते हों, जिन्हें वेदों की सत्परम्परा से ज्ञान प्राप्त न हुआ हो, तो ऐसी सन्तानें स्कूलों व कालेजों में अनेक विषयों को पढ़कर ज्ञानी अवश्य बन जायें परन्तु मनुष्य जीवन को अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्त करने के लिए जिस सत्य विद्या व ज्ञान की आवश्यकता होती है वह तो केवल वेद और वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होता है। वर्तमान काल पर विचार करें तो वेदानुकूल सभी शास्त्रों का निचोड़ अमृत व नवनीत के समान लोकभाषा हिन्दी भाषा में उपलब्ध **‘सत्यार्थप्रकाश’** एक ऐसा ही ग्रन्थ है जिसे पढ़कर वैदिक सत्य सिद्धान्तों से परिचित हुआ जा सकता है और अपने जीवन को सन्मार्ग पर चलाकर अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त किया जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश पढ़ने से मनुष्य में सद्ज्ञान वा विवेक की प्राप्ति होती है। यह सद् ज्ञान व विवेक समाधि अवस्था में प्राप्त होने वाले विवेक ज्ञान से कुछ भिन्न हो सकता है परन्तु है उसका पूरक ही। यह कह सकते हैं कि क्योंकि सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ एक समाधि सिद्ध योगी और वेद मर्मज्ञ महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने बनाया है, अतः इसमें उन्होंने जो ज्ञान प्रस्तुत किया है वह उन्हें समाधि में प्राप्त होने वाले विवेक ज्ञान का ही प्रतिरूप होने से यह भी एक प्रकार समाधि में प्राप्त विवेक ज्ञान ही है जो मनुष्य की सार्वत्रिक उन्नति करने में सक्षम है।

हमारे देश व देशान्तर में बहुत से लोग हैं जो वेद और सत्यार्थप्रकाश से अपरिचित हैं। वह जीवन में अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुरुप सत्य व्यवहार करते हुए अनुशासित जीवन व्यतीत करते हैं। वह सभी प्रशंसा के पात्र हैं परन्तु वेदाध्ययन से अयुक्त व दूर होने के कारण वह जीवन व्यवहार, चरित्र व भोजन आदि के नियमों को भली प्रकार से नहीं जानते। ऐसे अच्छे लोग भी अविद्या से ग्रस्त ही होते हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि उनका मनुष्य जन्म किन कारणों से व किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हुआ है। सब प्राणियों का जीवन दाता कौन है व उसका स्वरूप कैसा है? इससे भी संसार के लोग अपरिचित हैं। अतः इस कारण वह सभ्य बन्धु उस मार्ग को नहीं जानते जो जीवन के यथार्थ उद्देश्य का ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति कराता है। इसका निर्णय या तो वेद और वैदिक साहित्य पढ़कर होता है या इन सब प्रश्नों के उत्तर सत्यार्थप्रकाश को पढ़कर भी जाने जा सकते हैं। वेद पुनर्जन्म को मानते हैं। मनुष्य का जीवात्मा सत्य, चेतन, अल्पज्ञ, अनादि, अनुत्पन्न, नित्य, अजर, अमर, एकदेशी, ससीम, स्वतन्त्र कर्ता, फल भोगने में ईश्वर के अधीन है। वह सत्कर्मों व योगाभ्यास से समाधि को सिद्ध कर विवेक प्राप्त करता और इससे मोक्ष सिद्ध करता है। असत्य व अज्ञानता में फंस कर जीवात्मा लोभवश अशुभ व हेय स्वार्थ पूर्ति के कर्मों को करके वह कर्म फल बन्धनों में फंस जाता है जिससे कर्मानुसार मृत्योत्तर काल में अनेक जन्मों में अनेकानेक योनियों में जन्म प्राप्त करता है। सत्य मार्ग व पथ का बोध न होने का कारण अविद्या है जो वेद व वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से ही दूर होती है। इसके लिए मनुष्य के माता-पिता व आचार्य का वेदों का जानकार व ज्ञानी होना आवश्यक हैं तथा मनुष्यों को भी अधिकाधिक पुरुषार्थ करना होता है।

महाभारत युद्ध में बड़ी संख्या में विद्वानों की मृत्यु हो जाने के कारण देश देशान्तर में अविद्या का अन्धकार फैल गया था जिससे मनुष्य ईश्वर, जीवात्म व प्रकृति के स्वरूप को भूलने के साथ धर्म व अधर्म का भेद भी भूल गया। अज्ञानता के कारण उसने जिन मतों का सृजन किया, उसमें अविद्या निहित होने से अन्धविश्वास उत्पन्न हो गये। समय के साथ मतों व अन्धविश्वासों की संख्या बढ़ने लगी। भारत अनेक मतों, सम्प्रदायों व समुदायों सहित मिथ्या परम्पराओं में आबद्ध हो गया। ईश्वर की यथार्थ पूजा को भूला दिया गया। पूर्ण रूप से अहिंसक वैदिक यज्ञों में हिंसा होने लगी जो बौद्ध व जैन मतों के प्रादुर्भाव का आधार बनी। इसी प्रकार से विदेशों में पारसी, ईसाई व इस्लाम मतों का आविर्भाव हुआ परन्तु किसी भी मत में वेदों की समस्त सच्चाईयां विद्यमान नहीं थी। कुछ भारतीय मत तो पुनर्जन्म को मानते हैं परन्तु विदेशों में उत्पन्न मत पुनर्जन्म को नहीं मानते। हमारे देश में मांसाहार निन्दनीय था जबकि विदेशी नाना पशुओं के मांस के आहार के दोषों से अपरिचित होने के कारण इसका सेवन करते आ रहे हैं। ईश्वर व जीवात्मा का सत्य स्वरूप भी किसी मत में स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है। काम, क्रोध, लोभ व मोह की वृत्तियों के कारण समाज में परस्पर द्वेष व स्वार्थ बढ़ते गये जिसने मनुष्य समाज को संगठित व एकजुट करने के स्थान पर असंगठित और विकृत कर दिया। सभी मत व सम्प्रदाय परस्पर एक दूसरे के शत्रु हो गये। ईश्वर के सत्य स्वरूप को भुलाकर पाषाण आदि की मूर्तियों की पूजा होने लगी। अजन्मा, नस-नाड़ी व शरीर के बन्धन से रहित ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। कालान्तर में मृतकों का श्राद्ध भी किया जाने लगा। समाज को कृत्रिम जन्मना जातियों के आधार पर बांट दिया गया और उनमें अस्पर्शयता व छुआछूत आदि प्रचलित हो गये। बाल विवाह व बेमेल विवाह भी प्रचलित हो गये। ब्राह्मणों ने वेदों का अध्ययन करना छोड़ दिया। उन्होंने स्त्री व शूद्रों को भी वेदाधिकार व शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया। इससे अनेकानेक अन्धविश्वास उत्पन्न हुए जिनका कारण अविद्या था। इससे समाज और देश का घोर पतन हुआ। किसी सामान्य या विशेष पुरुष ने इस अविद्या को दूर करने की औषधि रूप वेद ज्ञान की प्राप्ति की चेष्टा नहीं की। सबने अपने अपने अन्धविश्वासों से युक्त मतों को ही ईश्वर प्रेरित मान लिया और अन्धविश्वासों को दूर करने की बात तो दूर है, उन पर विचार करने और शंका करने को भी बुरा माना जाने लगा। मत-पन्थ की मिथ्या मान्यताओं पर शंका करने पर दण्ड कठोर दिया जाने लगा। आज भी ईश निन्दा जैसे कानूनों की चर्चा सुनते रहते हैं। इनका परिणामयह हुआ कि संसार के मनुष्यों में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि भेद उत्पन्न हो गये। वर्तमान में आलम यह है कि कोई भी व्यक्ति व महापुरुष इन मतों के एकीकरण, विलय व ज्ञान के आधार पर एक सत्यमत स्थापित करने पर विचार ही नहीं करते। आज तो देश में वोट बैंक ओर तुष्टिकरण का युग है। आम व सच्चे मनुष्यों का हित गौण हो गया है। ईश्वर और कर्म-फल व्यवस्था का कहीं किसी को कोई भय नहीं है। आर्यसमाज को यह गौरव प्राप्त है कि उसके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश लिखकर व वेदों की सच्ची शिक्षाओं, मान्यताओं व सिद्धान्तों का प्रचार कर सत्य मत की स्थापना का प्रयास किया। उनको सफलता इस लिए नहीं मिली की अधिकांश लोग अपने अपने मत के प्रति पूर्वाग्रही थे। अनेक मतों के आचार्यों से ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के विद्वानों के शास्त्रार्थ, चर्चायें और शंका समाधान भी हुए परन्तु वेद विरोधियों के असफल होने पर भी सत्य मत वेद को स्वीकार नहीं किया गया। हां, सभी मतों से अनेक निष्पक्ष व ज्ञानी लोगों ने विगत लगभग डेढ़ शताब्दी में अपने विवेक व ज्ञान के अनुसार वैदिक धर्म को स्वीकार किया है। यह काम जिस पैमाने पर होना चाहिये थे उतना नहीं हुआ जिसका कारण अविद्या ही मुख्य है।

अविद्या को दूर करने के उपायों पर विचार करते हैं तो लगता है कि विश्व में वेदों की विचारधारा का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये। वेदों के प्रचार में शिथिलता से ही सभी मत-मतान्तर उत्पन्न हुए हैं और आज भी उनमें वेदानुसार सुधार न होने का मुख्य कारण अविद्या ही है। जब तक यह अविद्या समाप्त नहीं होगी, मनुष्य आपस में मत-मतान्तरों में विभाजित रहकर आरोप-प्रत्यारोप व धर्मान्तरण जैसे कार्य करते रहेंगे जैसे कि वह विगत लगभग दो-ढाई हजार वर्षों से करते आ रहे हैं। यह सन्तोष की बात है कि आज योग का प्रचार बढ़ रहा है और आज पूरा विश्व, अपवादों को छोड़कर, योग की श्रेष्ठता व उपयोगिता को स्वीकार कर चुका है। इसी प्रकार आने वाले समय में वेदों का यदि योग की ही तरह से कोई प्रचार करे, तो वह भी देश विदेश में स्वीकार्य हो सकता है। ऐसा होने पर ही अविद्या कम होगी व दूर होगी। सबसे बड़ी बाधा मत-मतान्तरों के लोगों व उनके आचार्यों की है जो सच्चे व विज्ञान सम्मत वेद मत व सत्यार्थप्रकाश आदि का अध्ययन करना ही नहीं चाहते। जिस प्रकार विज्ञान में एक विषय में एक ही सिद्धान्त होता है, परस्पर विरूद्ध विचार तो सिद्धान्त कदापि नहीं हो सकते, इसी प्रकार धर्म में भी सत्य सिद्धान्त एक ही होता है जिसका निर्धारण केवल वेद व वैदिक साहित्य के अध्ययन सहित योगाभ्यास व समाधि आदि को सिद्ध कर किया जा सकता है। इसका दूसरा उपाय हमें दिखाई नहीं देता। महर्षि दयानन्द जी का भी ऐसा ही मत था जो कि वेदों के मर्मज्ञ और योग समाधि को सिद्ध किये हुए थे।

हमने देखा है कि जब हम किसी अन्य मत के व्यक्ति से सैद्धान्तिक चर्चा करते हैं तो उनके पास सबल तर्क न होने पर भी वह सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज पर दोषारोपण करते हैं। यह भी कह देते हैं कि संसार में केवल एक वेद ही नहीं अपितु अन्य ग्रन्थ भी हैं। अनेक व्यक्ति पुराणों में निहित सभी बातों को भी पूर्ण सत्य स्वीकार करते हैं जबकि प्रायः सभी पुराणों की मान्यताओं व कथनों में परस्पर विरोध होने सहित वह ईश्वरीय ज्ञान वेदों के भी विरुद्ध हैं। ऐसे मित्रों को वैदिक सिद्धान्तों को समझाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव ही होता है। अतः हमें व आर्यसमाज को जन-जन में तीव्रता से वेदों का प्रचार करने की न केवल योजना बनानी चाहिये अपितु इस कार्य को सफल करने में पूरा बल लगाना चाहिये। यदि इसमें चूक होगी तो परिणाम वहीं होगे जो अतीत में हुए व वर्तमान में हो रहे हैं। वेदानुकूल जीवन ही अभ्युदस व निःश्रेयस की प्राप्ति का मार्ग है और इतर मार्ग इन उपलब्ध्यिों से दूर ले जाने वाले हैं। महर्षि दयानन्द ने विद्या तथा अविद्या की चर्चा करते हुए आर्योदेश्यरत्नमाला लघु ग्रन्थ में कहा है कि जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य ज्ञान वा विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उनका व्यवहार करना होता है उसका नाम **‘विद्या’** है। अविद्या उसे कहते हैं जो विद्या से विपरीत है और साथ हि भ्रम, अन्धकार और अज्ञान रूप है। यजुर्वेद के 40 वें अध्याय मे कहा गया है कि विद्या से अमृत अर्थात् अमृत की प्राप्ति होती है। इसका अर्थ है कि अविद्या, विपरीत व मिथ्या ज्ञान होने से मोक्ष प्राप्ति में बाधा पड़ती है। मनुष्य अविद्या के कारण कर्मफल बन्धन में फंस कर जन्म जन्मान्तर में दुःख भोगता है। अतः अविद्या मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु सिद्ध होती है परन्तु इससे ग्रस्त मनुष्य को पता नहीं होता कि वह अविद्याग्रस्त व रोगी है। क्या यह बहुत बड़ा आश्चर्य नहीं है? इसी के साथ इस चर्चा को विराम देते हैं। ओ३म् शम्।

**-मनमोहन कुमार आर्य**

**पताः 196 चुक्खूवाला-2**

**देहरादून-248001**

**फोनः09412985121**

**ओ३म्**

**‘वेद मन्त्रोच्चार से मूर्तियों में प्राण प्रतिष्ठा होना सिद्ध नहीं होता’**

**-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।**

हममें 28 नवम्बर 2016 को **‘मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा और मूर्तिपूजा’** पर एक लेख लिख कर फेस बुक पर प्रस्तुत किया था। इस पर आर्य विद्वान श्री कृष्ण कान्त वैदिक ने प्रतिक्रिया के रूप में अपना एक विस्तृत लेख प्रस्तुत किया जिसमें पुराणों के विरोधाभासों को उजागर किया गया है। उनके लेख पर सम्माननीय विद्वान श्री रवीन्द्र कुमार मिश्र जी ने महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा कि ‘‘मनमोहन आर्य जी का लेख तो मैंने नहीं पढ़ा परन्तु आपने मूर्ति प्रतिष्ठा से संबंधित वेद मंत्र जानना चाहा है। वह मंत्र इस प्रकार हैः- **‘ओम् असुनीते पुनरस्मासुचक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चचरन्तम, अनुमते न मृडया नः स्वस्ति।।’ (ऋग्वेद 8-1-23)** अर्थात् **‘हे असुनीते ! यहाँ हमारे इन देवों में फिर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय प्राण और भोग को स्थापित कर, हम प्रतिदिन ऊपर चढ़ते हुए सूय्र्य को चिरकाल तक देखें, इन मूर्तियों में ये सब सदा बना रहे। हे अनुमते हमें सुखी कर, हमारा कल्याण हो।’**

ऋग्वेद के मन्त्र 10-59-6 ‘असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति।।’ को पौराणिक मूर्तिपूजक लोगों द्वारा जड़ मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा कराने का मन्त्र बताया जाता है। इस मन्त्र के अर्थ के अनुसार इसका किसी मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा किये जाने से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वैदिक विद्वान एवं वेदभाष्यकार स्वामी ब्रह्ममुनि परिवाज्रक विद्यामार्तण्ड ने इस मन्त्र का यथार्थ भाष्य किया गया है। भाष्य है **‘(असुनीते) हे प्राणों को प्राप्त कराने वाले परमात्मन् ! (पुनः-इह-अस्मासु चक्षुः-प्राणं भोगं नः-धेहि) तू इस जीवन में-इस पुनर्जन्म में हमारे निमित्त पुनः नेत्र पुनः प्राण और भोग पदार्थ को धारण करा (सूर्यम्-उच्चरन्तं ज्योक् पश्येम) उदय होते हुए सूर्य को चिरकाल तक देखें (अनुमते नः स्वस्ति मृडय) हे आज्ञापक परमेश्वर ! हमारे लिए कल्याण, जैसे हो ऐसे, सुखी कर।।’** इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए विद्वान भाष्यकार ने लिखा है कि **‘पुनर्जन्म में प्राण, नेत्र, आदि अंग पूर्वजन्म के समान परमात्मा देता है। वह हमारे जीवन को सुखी बनाने के लिए सब साधन भोग पदार्थ देता है। उसका हमें कृतज्ञ होना चाहिए तथा उसकी उपासना करनी चाहिए।’** मध्यकालीन भाष्यकार आचार्य सायण ने भी इस मन्त्र को पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाला मन्त्र ही स्वीकार किया है न कि मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा वा स्थापना कराने वाला मन्त्र। आचार्य सायण का भाष्य है **‘असुनीते, हमें फिर नेत्र दो। फिर हमारे प्राण को हमारे पास उपस्थित करो। हमें भोग करने दो। हम चिरकाल तक सूर्योदय देख सकें। अनुमति, जिससे हमारा विनाश न हो, इस प्रकार हमें सुखी करों।’** इस प्रकार वैदिक विद्वान ब्रह्ममुनि जी और चतुर्वेदभाष्कार सायण में कोई अधिक भेद नहीं है। प्राण प्रतिष्ठा का तो कहीं दूर तक भी प्रसंग नहीं है।

श्री रवीन्द्र कुमार मिश्र जी ने वेदमन्त्र व उसका जो अर्थ प्रस्तुत दिया है, वह भी आर्य विद्वानों व सायण के अनुरुप है। अतः इस मन्त्र का प्राण प्रतिष्ठा में किया गया विनियोग उचित प्रतीत नहीं होता। जब प्राण प्रतिष्ठा असम्भव है तो वेदों में उसका मन्त्र मिलना भी असम्भव ही है। पुराणों को धर्म ग्रन्थ की तरह मानने वाले हमारे बन्धु वेद मन्त्रों के अनेक कर्मकाण्डों में ऐसे विनियोग कर देते हैं जिनका वेद मन्त्र के भावों व अर्थो से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे ही यज्ञ में पशु हिंसा करने सम्बन्धी मन्त्र रहे हैं जिनके कारण वैदिक धर्म व संस्कृति का मध्यकाल में अत्यधिक पतन हुआ, मन्दिर व देवालय आदि बने और मूर्तिपूजा का प्रचलन हुआ जिसका परिणाम देश की गुलामी के रूप में सामने आया। सन् 1947 में देश का विभाजन होकर आजादी मिली परन्तु साम्प्रदायिकता की समस्या हल नहीं हुई। देश का विभाजन होकर भी पाकिस्तान के रूप में एक शत्रु राष्ट्र हमें मिला जो तब से अभी तक कभी प्रत्यक्ष तो कभी व अब अप्रत्यक्ष वा छद्म युद्ध करता आ रहा है। आजादी के आन्दोलन के क्रान्ति व अहिंसात्मक अथवा गरम व नरम दोनों दलों के प्रमुख लोग महर्षि दयानन्द के विचारों से प्रभावित थे। क्रान्तिकारियों के गुरु श्यामजी कृष्ण वम्र्मा स्वामी जी के साक्षात् शिष्य थे वहीं महात्मा गांधी गोपाल कृष्ण गोखले के शिष्य थे। श्री गोखले कृष्ण गोखले पूना वासी महादेव गोविन्द रानाडे के शिष्य थे। रानाडे स्वयं को महर्षि दयानन्द का शिष्य मानते थे। पुणे में महर्षि दयानन्द का स्वागत सत्कार, उनके प्रवचनों व शोभा यात्रा की व्यवस्था में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। अतः हम देख रहे हैं कि मूर्तिपूजा से इसके अनुयायी व भक्तों को कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा है, देश की गुलामी दूर करने तक में नहीं अन्यथा आन्दोलन की बागडोर उन्हीं के हाथों में होनी चाहिये थी। अज्ञानता के युग मध्यकाल में मूर्तिपूजा की प्रथा बौद्ध व जैन मत का अनुकरण कर प्रचलित हुई। बुत शब्द बुद्ध का ही अपभ्रंस है। बुत ही बाद में मूर्ति के पर्याय के रूप में प्रचलित हुआ, यही अनुमान होता है। महाभारत काल व उससे पूर्व योगेश्वर श्री कृष्ण जी व श्री रामचन्द्र जी की मूर्ति की पूजा का विधान व प्रमाण कहीं देखने में नहीं आता। वेद, दर्शन, उपनिषद व अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी नहीं है। पुराणों में है परन्तु उनका काल तो विगत के 500 से 2000 वर्ष मान सकते हैं जिसके अनेक वर्णनों में अतिश्योक्ति है। अतः श्री कृष्ण जी की मूर्ति की पूजा का प्रचलन मध्यकाल में ही हुआ था जो कि ज्ञान की दृष्टि से अवनत काल था।

वेद एवं वैदिक साहित्य के अनुसार ईश्वर निराकार एवं सर्वव्यापक है। वह चेतन तत्व व पदार्थ है न कि जड़ पदार्थ। सर्वव्यापक और निराकार होने से उसकी निराकार-आकृतिहीन के अनुरूप आकृति व मूर्ति बनाना असम्भव है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम एवं योगेश्वर श्री कृष्ण जी पांच हजार व उससे पूर्व हुए हैं। इनके जो चित्र व मूर्तियां चित्रकारों द्वारा बनाई जाती हैं वह कल्पनाश्रित होती हैं, उनके यथार्थ शारीरिक आकार प्रकार अर्थात् आकृति से चित्र व मूर्ति का कोई सरोकार नहीं है। यदि कोई व्यक्ति हममें से किसी को देख ले और उसका किसी पुस्तक में वर्णन कर दे तो उसके आधार पर जो चित्र व मूर्ति बनाई जायेगी वह हूबहू हम जैसी कदापि नहीं हो सकती। यदि ऐसा है तो कोई भी चित्रकार बिना वास्तविक चित्र के किसी का जो चित्र बनायेगा वह यथार्थ चित्र जैसा ही बनेगा, सर्वथा असम्भव है। अतः श्री राम व श्री कृष्ण जी की यथार्थ मूर्तियां को कोई चित्रकार व मूर्तिकार नहीं बना सकता। यदि कुछ कुछ मिलती जुलती बनाता भी है तो वह ऐतिहासिक महापुरुष श्री राम व श्री कृष्ण जी की तो हो सकती है, ईश्वर की तो कदापि कदापि नहीं। वेदों में ईश्वर अजन्मा, अकायम्, अवर्ण, अस्नाविरम्, शुद्धम्, परिभू:, स्वयंभू आदि कहा गया है। कौन है जो ऐसे ईश्वर की मूर्ति बना सकता है? कोई नहीं।

अब किसी पाषाण व धातु की मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा पर विचार करते हैं। प्राण सूक्ष्म शरीर का अंग होते हैं। ईश्वर इन्हें सृष्टि के आरम्भ वा रचनाकाल में प्रत्येक आत्मा के लिए पृथक पृथक बनाता है जो प्रलय काल तक उसी आत्मा के साथ संयुक्त रहते हैं। मृत्यु होने पर भी यह प्राण वा सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ चला जाता है और फिर ईश्वर कर्मानुसार उस जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर सहित नया जन्म व शरीर प्रदान करता है जिसे पुनर्जन्म कहते हैं। परमात्मा के भण्डार में बिना आत्मा के पृथक से प्राण व सूक्ष्म शरीर बनाकर नहीं रखे गये हैं कि जिन्हें हमारे कोई विद्वान व पण्डित आवाह्न करें और वह जड़ प्राण पण्डित जी की बात सुनकर आकर उनके द्वारा निर्दिष्ट मूर्ति में प्रविष्ट हो जाये। अतः प्राण प्रतिष्ठा की यह परिपाटी यथार्थ सत्य न होकर अन्धविश्वास ही है। यदि इसमें ईश्वर के प्राण वस्तुतः प्रविष्ट व प्रतिष्ठित होते तो सोमनाथ, मथुरा, काशी, अयोध्या आदि के मन्दिरों में जो मूर्तियां विधर्मियों ने खण्डित की हैं, वह ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने से कदापि न हो सकती। महर्षि दयानन्द जी के जीवन में शिवलिंग पर चूहों की जो घटना घटी थी, वह भी यही प्रमाणित करती है कि पौराणिक रीति से मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा करने पर भी उसमें एक साधारण पाषाण की तुलना में किसी प्रकार की कोई शक्ति उत्पन्न नहीं होती। वह मूर्ति वही होती व रहती है जो प्राण प्रतिष्ठा आदि कर्मकाण्ड से पहले होती है। यहां यह भी विचारणीय है कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से जगत के प्रत्येक पदार्थ में सदा सर्वदा विद्यमान है। मूर्तिकार व चित्रकार जो मूर्तियां बनाता है उसमें भी ईश्वर प्रतिष्ठित रहता ही है। अतः उसका बुलाना वा आवाह्न करना नहीं घटता क्योंकि वह तो पहले से ही उपस्थित व विद्यमान है। यदि मूर्ति पूज्य है तो संसार की प्रत्येक वस्तु के अन्दर ईश्वर की विद्यमानता के कारण वह पूजनीय सिद्ध होती है। किसी वस्तुत का उसके गुण व दोषों के आधार पर ग्रहण व परित्याग करना उचित होता है। सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग ही पूजा है। ईश्वरीय ज्ञान वेदों व वेदभक्त ऋषियों के ग्रन्थों का स्वाध्याय कर ईश्वर को जानना, उसके गुणों के अनुसार उसकी स्तुति व अर्चना करना तथा ईश्वर की आज्ञा का पालन ही ईश्वर की पूजा है। इन्हीं शब्दों के साथ हम अपनी बात समाप्त करते हैं। ओ३म् शम्।

**-मनमोहन कुमार आर्य**

**196/261 चुखुवाला ब्लाक 2**

**देहरादून-248001**

**मोबाइलः 09412985121**